

## विवरण प्रमेय संग्रहकार का आत्मा में अविद्या विषयक विचार

प्रभात कुमार त्रिपाठी\*

अद्वैत वेदान्त दर्शन की परम्परा आचार्य शंकर तक तो ठीक चलती रही किन्तु, शंकराचार्य के पश्चात् केवलाद्वैत परम्परा में कुछ सिद्धान्तों को लेकर आचार्यों के बीच मत मतान्तर होने लगे। जिसके फलस्वरूप अद्वैत वेदान्त दो प्रस्थानों में विभाजित हो गया। जिनमें एक विवरण प्रस्थान और दूसरा भामती प्रस्थान कहलाया। विवरण प्रस्थान का आधार ग्रन्थ आचार्य पद्मपाद के द्वारा लिखित पञ्चपादिका ग्रन्थ है। पञ्चपादिका स्वयम् शंकराचार्य के शारीरक भाष्य पर लिखी हुयी टीका है। आगे चलकर आचार्य प्रकाशात्मायति ने पञ्चपादिका पर विवरण प्रस्थान के संस्थापक ग्रन्थ 'विवरण' की रचना किया, इसी विवरण ग्रन्थ पर विवरण प्रस्थान के अद्वितीय ग्रन्थ की रचना स्वामीविद्यारण्य के द्वारा किया गया। इसी बात को स्वामी जी ने अपने ग्रन्थ में इस प्रकार से कहा है—

भाष्य टीका विवरणम् तन्निवन्धसंग्रह।

व्याख्यानव्याख्येयभवक्लेशहानाय रच्यते।।<sup>1</sup>

आचार्य विद्यारण्य पूर्वपक्ष के रूप में स्वयमेव शंका उपस्थित करते हैं और कहते हैं कि स्वप्रकाश ब्रह्म के अविद्याश्रय सिद्ध होने पर भी उसके सदैव भासमान होने से वह अविद्या का विषय नहीं बन सकता। घट के प्रकाशित होने पर "मैं घट को नहीं जानता हूँ।" इस प्रकार घट में अज्ञान विषयता का कोई व्यवहार नहीं करता। "तुम्हारे कहे हुए अर्थ को मैं नहीं जानता हूँ।" इस प्रतीति से भासमान अर्थ के ही अज्ञान के प्रति व्यावर्तक होने से अज्ञान विषयत्व का व्यवहार होता है, ऐसा कहना भी नहीं बनता क्योंकि उक्त प्रतीति में भी ज्ञात नहीं हुआ है, कि वही अज्ञान का विषय है। जो ज्ञात नहीं है उसकी विशेषणतया प्रतीति नहीं हो सकती, यदि ऐसा कहो तो 'तुम्हारे अर्थ को मैं नहीं जानता' तो इस वाक्य की संगति वेदान्ती कैसे करेंगे? अर्थात् अनवगत तो विशेषण हो ही नहीं सकता, तब जैसे सदाभास भाव ब्रह्म अज्ञान का विषय बन नहीं सकता, वैसे ही त्वदुक्तम् इत्यादि वाक्य भी पूर्वोक्त रीति से असंगति नहीं बन सकती, शंका का यही तात्पर्य है।

संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुये आचार्य विद्यारण्य स्वामी लिखते हैं कि प्रमाण द्वारा प्रकाशित होने वाला अर्थज्ञान का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण अज्ञान का निवर्तक होता है। किन्तु जो केवल साक्षीप्रत्यक्ष से ज्ञात होने वाला घटादि अथवा चैतन्य ही है, उसके अज्ञान का विषय होने में कोई हानि नहीं है। साक्षी—चैतन्य अज्ञान का निवर्तक नहीं होता है। बल्कि इसके विपरीत अज्ञान का साधक ही होता है। अन्यथा यह अज्ञान सब प्रमाण या न्यायों से विरुद्ध होता हुआ कैसे सिद्ध हो सकेगा? इसी को एक श्लोक के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी

सहते न विचारं सा तमो यद्वदिवाकरम्।।<sup>2</sup>

अर्थात् वह भ्रान्ति आलम्बन रहित होती हुई (प्रमाण रूपी या विषय रूपी आलम्बनशून्य) सब न्यायों से विरोध रखने वाली विचारयुक्ति के सामने नहीं ठहर सकती, जैसे सूर्य के सम्मुख अन्धकार नहीं ठहर सकता। और विचारों के युक्तियों के— सामने न टिक पाना अविद्या का अलंकार ही है ऐसा भी कहा है।

अविद्याया अविद्यात्वभिदमेवान् लक्षणम्।

यद्विचारासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्।।<sup>3</sup>

उपर्युक्त श्लोक का भावार्थ है कि युक्तियों सामने ठहर न सकना ही अविद्या का अविद्यात्व है और वहीं लक्षण है, अन्यथा यदि अज्ञान युक्तियों से सिद्ध हो जाये तो वह यथार्थ वस्तु ही हो जाय।

इस प्रकार अविचारितरमणीय (बिना विचार के ही सुन्दर मालूम पड़ने वाली विचार करने पर कुछ नहीं) अविद्या में आत्मा को आक्षन्न करने का सामर्थ्य नहीं है, यह शंका नहीं बन पड़ती क्योंकि— कहा गया है कि—

अहो धाष्टर्यमविद्याया न कश्चिदतिवर्तते।

प्रमाणं वस्त्वनादृत्य परमात्मेव तिष्ठति।।<sup>4</sup>

अर्थात् आश्चर्य है। अविद्या की कितनी प्रबल धृष्टता है, जिसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। जो अविद्या प्रमाण वस्तु का भी तिरस्कार करके परमात्मा के ऊपर आसन जमाये बैठी है।

केवल युक्तियों का सहारा लेने वाला पुरुष भी अनुभव का अलाप नहीं कर सकता, क्योंकि युक्ति भी अनुभव पर निर्भर है, नहीं तो युक्ति प्रतिष्ठित नहीं हो सकती है। अर्थात् मात्र युक्ति से जिसमें अनुभव का संवाद न हो ऐसी वस्तु सिद्ध नहीं मानी जाती है, ऐसी युक्तियाँ केवल प्रलाप कहलाती हैं स्वयंज्योति— स्वप्रकाश— आत्मा का देहादिसंघात रूप भोक्ता से भेद अज्ञान से आच्छन्न है, यह अनुभव सिद्ध है।

यदि कोई 'अहं' इस प्रकार की आत्म प्रतीति में देहादिसंघात से आत्मा में भेद भी प्रतीति ही होता है (इससे भेद अज्ञान से आक्षन्न है, ऐसा कहना नहीं बनता, क्योंकि भेद वस्तु का स्वरूप ही है) अर्थात् आत्मा और देहादिसंघात का भेद उसका स्वरूप ही है। तब 'अहं' इस स्वरूप के भान के साथ-साथ तत्स्वरूप भेद का भी भान हो ही गया यही भाव बतलाना है।

"मैं मनुष्य हूँ" इस प्रकार की प्रतीति से देह के साथ मिथ्याभूत तादात्म्य का अभिमान होने से भेद प्रतीति तिरोहित हो गयी है ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि भेद प्रतीति का अनुसरण करने से भी ऐक्य का अभिमान गौणलक्षणा से भी उपपन्न हो सकता है। इससे भेद प्रतीति के विरुद्ध मिथ्यात्व की कल्पना नहीं की जा सकती। जैसे सिंह और माणवक के भेद के सर्वप्रसिद्ध होने पर भी "सिंहो माणवक" ऐसा सामानाधिकरणनिर्देश से लक्षणा के द्वारा सिंह और माणवक में अभेद की प्रतीति होती है, जिससे शौर्यातिशय का बोध होता है, वैसे ही 'अहं मनुष्यः' इति प्रतीति में भी लक्षण के द्वारा अभेद की प्रतीति होती है। यदि मैं मनुष्य हूँ इस प्रतीति में मनुष्य पद से बोधित होने वाले देह के साथ समानाधिकरण होने से 'मैं' यह प्रतिपक्ष प्रतीति आत्मा से देह के भेद का ग्रहण न करा सके, तो वह देह-आत्मा का भेद सिद्ध ही नहीं हो सकेगा, इसमें दूसरा कोई प्रमाण ही नहीं है, क्योंकि वस्तुमात्र की प्रतीति या सिद्धि प्रायः प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होती है, और दूसरे आगम एवं अनुमान आदि भी प्रत्यक्ष का विरोध न करते हुए ही प्रमाण होते हैं। एवं प्रकृति में आत्मा का 'अहम्' ऐसी जो प्रतीति है वह प्रतीति मुनष्य के साथ समानाधिकरण होने से देह और आत्मा के भेद का ग्रहण नहीं कराती, प्रत्युत अभेद का बोधान कराती है। इसलिए प्रत्यक्ष ही अभेद का ग्राहक है, तद्विपरीत भेद का ग्राहक और कोई दूसरे प्रमाण नहीं माने जा सकते। अतः प्रमाणाभाव है, यह तात्पर्य है। आगम, शास्त्र और अनुमान न्यायवाक्य प्रयोग भी प्रत्यक्ष के विरोध में प्रमाण नहीं माने जाते हैं। 'अहं' प्रत्यक्ष भी (जो देहादि से अभिन्न विषयक-सी प्रतीति है) द्विचन्द्रादिज्ञान के तुल्य मिथ्या है। ऐसा नहीं है। क्योंकि आगम और अनुमान के प्रामाण्य की सिद्धि होने पर उसका मिथ्यात्व और उसका तादात्म्य मिथ्यात्व के सिद्ध होने पर आगमादि प्रामाण्य सिद्ध होगा" इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष सिद्ध होता हुआ दिखता है इसके उत्तर में कहते हैं।-

उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। क्या 'अहम्' यह ज्ञान वस्तुतः देह से भिन्न आत्मा को विषय करता है? अथवा क्या प्रतिभास से ? अहं इस प्रतीति में जैसे आत्मा भासता है, वैसे ही भेद भी भासता है यह द्वितीय विकल्प का तात्पर्य है। वस्तुतः भेद का रहना किसी अर्थ का साधक नहीं है। "सिंहो माणवकः" यहाँ पर भी भेद का ज्ञान ही प्रतिबन्ध का निरसन न होने से विवेक नहीं हो पाता तो भी

शास्त्र को जानने वाले तो देहादि से अतिरिक्त ही 'अहम्' हैं ऐसा प्रत्यय कभी भी नहीं कर सकते और न कह ही सकते हैं क्योंकि 'अहम्' बस इतने से ही भेद का बोध हो ही गया।

पुनः "देह से भिन्न" है ऐसा कहना पुनरुक्त दोष हो जायेगा। अब यहाँ पर आचार्य ने, जो दार्शनिक या सिद्धान्ती ये मानते हैं कि ये स्थूल देह ही आत्मा है उनके मत का खण्डन करते हैं।-

यदि कोई ये कहता है कि यदि अहम् यह प्रत्यय केवल आत्मा को ही विषय करता है, तो अहम् से आत्मा के ग्रहण में प्राप्त हुए प्रतिबन्ध को युक्तियाँ आनन्द से भले ही हटावें किन्तु इतने से ही अहम् प्रतीति का देहादि विषयत्व जो अनुभव में आ रहा है, वह नहीं हटाया जा सकता। 'अहम् स्थूलः' इस प्रतीति में 'अहम्' ज्ञान का विषय देह आदि है, ऐसा अनुभव में आता है इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है।

उपर्युक्त समस्या पर स्वामी विद्यारण्य कहते हैं, नहीं ऐसी बात ठीक नहीं है, क्योंकि जो अपने विषय का ग्रहण करता है वह प्रमाण और जो दूसरे विषय का ग्रहण करता है वह अप्रमाण इस प्रकार प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था हमारे मत में नहीं है, किन्तु सत्य पदार्थ का ग्रहण करने वाला प्रमाण और अनृत-असत्य पदार्थ का ग्रहण करने वाला अप्रमाण माना जाता है।

अहम् प्रतीति तो सत्य आत्मा और असत्य अनात्मा देह इन्द्रियादि इन दोनों का एक रूप से ग्रहण करती हैं, अतः भ्रम ही है। दृष्टान्त देते हुए आचार्य कहते हैं- जैसे अवयव शून्य 'अ' कारादि वर्णों का पूर्णभान होने पर भी व्यंजक ध्वनि में विद्यमान ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि धर्मों का आरोप होता है। ह्रस्वत्व, दीर्घत्व तो वर्ण के धर्म हैं नहीं, क्योंकि यह वही अकार है इस प्रकार प्रत्यभिज्ञाबुद्धि से वर्णों का सर्वगतत्व प्रतीति होता है। वर्णों के इस सर्वगतत्व का ज्ञान रहते हुए भी उन युक्तियों का अनुसन्धान किये बिना ह्रस्वत्व आदि की अनुवृत्ति होती ही रहती है दार्ष्टान्तिक में समन्वय करते हैं। इसी तरह आत्मा में भी बालक से लेकर धुरन्धर विद्वान तक सबके अनुभव से सिद्ध देह आदि का आत्मा से तादात्म्य का भ्रम शास्त्र द्वारा उत्पन्न हुए ब्रह्मात्म तत्त्व के साक्षात्कार के बिना बाध रहित होता है। ऐसी दशा में तब उसकी निवृत्ति कौन कर सकता है। अहम् मनुष्यः यह प्रतीति गौण है। इस पूर्वोक्त विवेचन से स्वयं प्रकाश अवयव शून्य भी आत्मा मिथ्या अभिमान से आच्छन्न हुआ ब्रह्मतत्त्वाकार से गृहीत नहीं होता।

इस प्रकार आकार का भेद होने से सामान्य अंश का ग्रहण एवं विशेष अंश का अग्रहण इन दोनों का सम्भव होने से ब्रह्मतत्त्व का अधिष्ठान होना विरुद्ध नहीं है। ऐसी अवस्था में सत्य अधिष्ठान का मिथ्यावस्तु के संसर्ग से भान होना अध्यास

का स्वरूप लक्षण भी है ही एवं विषय इन्द्रिय, तथा द्रष्टा इन तीनों गौण व्यवहार का साधक हैं, अन्यथा भेदज्ञान के बिना भी यदि गौण व्यवहार माना जाय तो यह रजत् है, यहाँ पर भी अर्थतः भेद रहने से गौणव्यवहार ही होना चाहिए, 'भ्रमव्यवहार' नहीं।

आगे आचार्य युक्ति के विषय में थोड़ा चर्चा करते हैं और कहते हैं कि युक्तियों के अनुसन्धान को विचार कहते हैं। युक्तियाँ स्वतन्त्र होकर ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती, किन्तु प्रमाणों का अनुग्रह करती हुई अर्थात् प्रमाणों को सहायता देती हुई, प्रमाणित करती हुई प्रमाणभूत अहम् प्रत्यय का देह से भिन्न आत्मा है ऐसा विवेचन करती है, यदि कोई उपर्युक्त शंका करे तो उसके उत्तर में आचार्य कहते हैं यह उचित नहीं है, क्योंकि क्या युक्तियाँ प्रमाण का विषय विशेष में नियम न कर देती हैं इतना ही तुम्हें ग्रहण करना चाहिए न तो इससे अधिक और न इससे कम? या स्वतः सिद्ध विषय में उसका ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त हुए प्रमाण के आये हुए प्रतिबन्ध को दूर कर देती है? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि पुरुष बुद्धियों के विचित्र अव्यवस्थित होने से युक्ति को भी अव्यवस्थित विषयत्व होने की आपत्ति होगी। विरुद्ध स्थल पर अपने मत को ही प्रमाणित एवं दूसरों के मत को अप्रमाणित सब लोग मानते हैं। प्रमाणों को अव्यवस्थित विषय मानने पर तो दूसरों के मत को भी प्रमाण मानकर आदर के योग्य हो जायेंगे। और बहुत सी प्रवल युक्तियाँ नियामक ही होंगी ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि हजारों भी युक्तियाँ जो सकलशास्त्र सम्मत बुद्धियों से भी उत्पन्न हुई हों शब्द को वे आँखों का विषय नहीं बना सकती और न उसकी स्वविषयता का ही निवारण कर सकती हैं। यदि ऐसा कर सकती हैं तो हम मानते हैं कि युक्तियाँ प्रमाण की नियामक हैं। परन्तु वे ऐसा कर ही नहीं सकती हैं।

अतः युक्तियों में प्रमाण नियामकत्व नहीं बन सकता।

आगे आचार्य विद्यारण्य स्वामी शंका के रूप में स्वयं प्रश्न करते हैं और कहते हैं कि यदि इस प्रकार की शंका हो कि जब आत्मा शुद्ध चेतन है निर्लेप है तो फिर उस निर्लिप्त चेतन एवं प्रत्यग् आत्मा में अध्यास की सम्भावना कैसे हो सकती है? क्योंकि सर्वत्र शुक्तिरजत् आदि अध्यास स्थल में जिस इन्द्रिय से अध्यास के विषय रजतादि का ज्ञान होता है उसी इन्द्रिय से अधिष्ठान का भी ज्ञान होता है, इससे अधिष्ठान को सर्वत्र समानेन्द्रिय विज्ञान विषयत्व ही देखा गया है, ऐसा सामनेन्द्रिय विज्ञान विषयत्व युष्मत्प्रत्यय के विषय न होने वाले आत्मा का ही है।

उपर्युक्त शंका के समाधान के रूप में आचार्य कहते हैं— एक विज्ञान में अधिष्ठान एवं अध्यस्यमान दोनों के ऐक्य से अवभास होना ही अध्यास में अपेक्षित है। 'अधिष्ठान का निरुक्त ज्ञान विषयत्व होना अपेक्षित नहीं है, ऐसा मानने में केवल व्यतिरेक का अभाव है, अर्थात् जो विषय नहीं है उसमें अध्यास नहीं होता ऐसा

केवल व्यतिरेक नहीं है। क्योंकि विषय न होने वाली स्वतः प्रकाश के संवित में क्षणिक का अध्यास देखा गया है।

आत्मा तथा अनात्मा दोनों के तादात्म्य का बोधक "अहम्" इस आकार वाला एक ज्ञान देखा नहीं गया है। यद्यपि आत्मा अवयव शून्य एवं अविषय होने से अंश से अथवा स्वरूप से भी 'अहम्' इस ज्ञान का विषय नहीं है, तथापि आकाश प्रतिबिम्ब से युक्त दर्पण के सदृश आत्मा में अध्यस्त हुआ अन्तःकरण जिसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ा हुआ है, अहम् इस आकार के ज्ञान से प्रकाशित होता है। 'इदं रजतम्' इस अध्यास के समान अहम् अध्यास में भी दो रूप हैं ही।

जैसे 'अयो दहति' इस प्रतीति में दाहकर्तृत्व विशिष्ट अग्नि का और लोहे का दो रूप में अवभास होता है। इस अनुमान कर्ता से कहना चाहिए कि क्या इस आप के निर्दिष्ट अनुमान ज्ञान में प्रतिबिम्बभाव के बिना साक्षात् विषय होते हुए घट, पट आदि प्रतीत होंगे कि नहीं? यदि प्रतीति होती है तब पर भी दोष है और प्रतीति नहीं होती यदि ऐसा मानते हो तब तो ज्ञान बिम्ब पुरस्सरत्व का प्रतिभास न होने से तो अनुमान का ही उदय नहीं होगा।

उत्पत्ति अर्थात् जन्म, विश्व की स्थिति एवं समस्त सृष्टि का प्रलय सब कुछ ब्रह्म का विवर्त मात्र है। इसके अलावा कुछ भी नहीं है और जीवोब्रह्मैवनापरः।

#### सन्दर्भः

- 1—वि०प्र०सं०—1/2
- 2—वि०प्रवसं०—1/4
- 3—ईष्टसिद्धि—107
- 4—पंचदशी—1/17

